द्वितीय अध्याय : भक्ति आंदोलन

2.1 भक्ति का स्वरूप

2.2 भक्ति आंदोलन का विकास

जैन एवं बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणवाद का प्रभाव

बौद्ध धर्म का क्षय

भक्ति का निर्गुण एवं सगुण स्वरूप

भक्ति आंदोलन के उद्‌भव विषयक मत

2.3 वैष्णव भक्ति : उद्‌भव और विकास

2.4 वैष्णव संप्रदाय : पांचरात्र मत

2.5 आल्वार संतों का प्रपत्ति सिद्धांत

2.6 अष्टछाप कवियों का पुष्टिमार्ग

द्वितीय अध्याय : भक्ति आंदोलन

2.1 भक्ति का स्वरूप

भक्त, भक्ति तथा भागवत् ये सभी शब्द भज् धातु से बने हैं ''वैदिक साहित्य में भज् शब्द का प्रयोग विभाजित करना, वितरण करना, देना, नियत करना, भाग लेना तथा साझीदार बनाने के अर्थ में हुआ है।''[1] भगवत्, भक्ति तथा भक्त को परस्पर आंतरिक सम्बद्ध बताते हुए सुवीरा जायसवाल 'वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास' पुस्तक में लिखती हैं, ''भगवत् शब्द का तात्पर्य वह आदिम जनजातीय समूह था जो समस्त जनजातीय संस्कृति का स्वामी होता था। भक्ति का अर्थ उस सम्पत्ति का एक भाग या हिस्सा था और भक्त का अर्थ था–वह व्यक्ति जिसे वह भाग प्राप्त होता था। आगे चलकर 'भगवत्' को एक देवता या भगवान के रूप में माना जाने लगा और 'भक्त' को जो उस जनजाति का एक सदस्य होता था उसके आश्रित या उपास्य के रूप में।''[2] 'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव', पुस्तक में ताराचंद भक्ति–धर्म के तत्त्वों के विषय में उल्लेख करते हैं, ''एक व्यक्तिगत देवता, दैवी कृपा, भक्त का आत्मसमर्पण और प्रेम, सभी जाति और पंथ के लोगों की मुक्ति की वादा और रहस्यमय एकीकरण।''[3] इस प्रकार भक्ति, भक्त का भगवत्, जो कि ऐश्वर्यवान् सम्पूर्ण जगत का स्वामी है उसके प्रति आत्मसमर्पण है। भक्ति करने का अधिकार सभी जाति एवं पंथ के लोगों को प्राप्त है, भले ही उनका माध्यम अलग हो। भक्ति के माध्यम से भक्त को भगवत् कृपा प्राप्त होती है, जिससे उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति, भगवान में आस्था, प्रेम और विश्वास है। भक्ति, भगवान का व्यवस्थित रूप से वर्णन सबसे पहले नारद और शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में मिलता है। नारद ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है,

''सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च''[4]

अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेममय तथा अमृतानंदमय भाव है। साधना के सभी साधनों में निष्काम प्रेम स्वरूप में भक्ति सरल और सहज मानी गई है। भगवान को प्राप्त करने के लिए नवधा भक्ति का क्रम विकसित होता है।

''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

''अर्चनं वदनं दास्यं सख्यात्मनिवेदनम्।।''[5]

इस क्रम में भगवत् चर्चा (कथा) सुनना, कीर्तन, विष्णु का स्मरण, चरणों की सेवा, अर्चना, वंदना, दास्य भाव, सख्य प्रकार की भक्ति तथा आत्मनिवेदन भगवत् प्राप्ति में सुलभ बताए है। इस क्रम के बाद में भक्ति की साधनावस्था समाप्त होती है। प्रेम की परकाष्ठा रूपी अंतिम अवस्था भगवद् विरह क्षण भर के लिए सहन न करने की अवस्था है और वही सबसे शुद्ध, तीव्र और उज्ज्वल अवस्था है।

''भक्तिर्मनस उल्लासविशेषः''[6]

भक्ति मन का एक उल्लासविशेष है।

''सा पुरानुरक्तिरीश्वरे''[7]

वह (भक्ति) ईश्वर में परमानुराग है।

''पूज्येष्वनुरागो भक्तिः''[8] अर्थात् पूजनीय व्यक्ति के प्रति जो अनुराग होता है उसे ही भक्ति कहते हैं।

भक्ति का स्वरूप विविध परिस्थितियों के कारण निरंतर बदलता रहा है। भक्ति को स्त्री मानते हुए 'श्रीमद्भगवत्' में भक्ति के विषय में कहा है–

''उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धि कर्नाटके गता।

क्वचित् क्वचिंमहाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।

तत्र घोरे कलेयोगात पाखंडे खण्डितांगिका।

दुर्वलाहं चिरं जाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्।।

वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।

जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।।''[9]

इस श्लोक में भक्ति वृंदावन में नारद से मिलने पर अपनी उक्त कथा बताती है। इस श्लोक में स्पष्ट है कि भक्ति का उदय द्रविड़ प्रदेश (तमिलनाडु) में हुआ। आल्वार संतों तथा आचार्य रामानुज जो तमिलनाडु के थे, उन्होंने भक्ति का प्रचार–प्रसार किया। तत्पश्चात् कर्नाटक के माध्वाचार्य का भी कृष्ण भक्ति में महत्वपूर्ण योगदान है। इसके बाद इस श्लोक में बताया है, कर्नाटक में वृद्धि के पश्चात् भक्ति महाराष्ट्र में इधर–उधर पड़ी रही। महाराष्ट्र के संदर्भ में कहने का आशय है, उस समय महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय का बोलबाला था, जिसमें विट्ठल की उपासना की जाती है। वहाँ विष्णु और शिव के नाम में कोई भेद नहीं है तथा यहाँ निर्गुण भक्ति को महत्व दिया जाता है। संत ज्ञानेश्वर और नामदेव का भी निर्गुण भक्ति की ओर झुकाव था, जिस कारण भक्ति महाराष्ट्र में इधर–उधर पड़ी रही। आगे श्लोक में, भक्ति गुजरात में वृद्ध और कमजोर हो गई। जब हिंदुस्तान के अन्य प्रांतों में वैष्णव धर्म बढ़ रहा था, तब भी गुजरात में जैन धर्म का प्रसार था। उक्त श्लोक के अंत में भक्ति वृंदावन पहुँचकर पुनः अपनी युवावस्था और सुंदरता को प्राप्त करती है, किंतु भक्ति के पुत्र ज्ञान और वैराग्य अभी भी मरणासन्न है। तब नारद कहते हैं कि ज्ञान और वैराग्य का वृंदावन में कोई स्थान नहीं है यहाँ भक्ति ही सर्वोपरि है।

भक्ति मार्ग की सबसे पहली लिखित कृति 'श्रीमद्भगवद्गीता' है तथा इसमें भक्ति के स्वरूप पर वर्णन करते हुए प्रो. ताराचंद विभिन्न उद्धरणों के माध्यम से भक्ति के विषय में लिखते हैं, ''भक्ति का तात्पर्य है सभी कर्मों का ईश्वर को समर्पण, क्योंकि भक्त ईश्वर में ही रहते है और उसी में उसका अस्तित्व होता है। ईश्वर अपनी कृपा अपने भक्तों को प्रदान करता है, क्योंकि पापी उपासक को भी आश्वासन दिया जाता है कि उन्हें सद्गुणी माना जाएगा, बशर्ते कि वह अखण्ड हृदय से भक्ति करे।''[10] भक्ति में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं माना जाता। ईश्वर की दृष्टि में सभी भक्त समान माने जाते हैं चाहे वह किसी

भी कुल अथवा जाति में उत्पन्न हों। विजयेंद्र स्नातक श्रद्धा और भक्ति में भेद बताते हुए कहतें हैं, ''भक्ति मनुष्य की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है जो व्यक्ति की आस्था और ईश्वर के अस्तित्व के साथ जुड़ी है। मन के भीतर निहित पूज्य भाव या श्रद्धा भाव जब अपने से अधिक शक्तिशाली शक्ति या व्यक्ति के प्रति व्यक्त होता है तब वह लौकिक श्रद्धा कहलाता है, किंतु जब यही भाव अलौकिक, अदृश्य शक्ति के प्रति उदय होकर शाब्दिक रूप में व्यक्त किया जाता है तब भक्ति कहलाता है। भारतीय तत्त्व चिंतन में भक्ति को ईश्वर की उपासना, अराधना, पूजा, सेवा आदि के मूल में स्थित मुख्य प्रेरक भाव माना गया है। मनुष्य अपनी सीमित शक्ति से इस विश्व का पालन या विध्वंस नहीं कर सकता, अतः उसका ध्यान एक ऐसी विराट सत्ता की ओर जाता है जो दृश्यमान जगत के प्रादुर्भाव, स्थिति एवं संहार का कारण है।''[11] रामधारी सिंह दिनकर पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्पष्ट करते हैं, ''वेदों के समय आर्य यज्ञ और हवन ऋचाओं का पाठ करते थे एवं उनका विश्वास था कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होते है, लेकिन भागवत् के समय में जिस भक्ति मत का प्रचार हुआ उसमें यज्ञों की प्रधानता नहीं रही और जनता यह मानने लगी कि भगवान को प्रसन्न करने का सही मार्ग यह है कि हम अपने आपको उनकी शरण में छोड़ दें। यही प्रपत्ति या शरणागति का सिद्धांत है।''[12] प्रपत्ति का सिद्धांत आल्वार संतों की देन है। जिसमें किसी भी प्रकार के कर्मकांड, उपासना या अन्य औपचारिकताओं की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रपत्ति के सिद्धांत का प्रचार रामानुजाचार्य, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ तथा भक्ति के अन्य आचार्यों ने भी किया, जो कि आल्वार संतों से प्रभावित रहे। राजमल बोरा आल्वारों की कृति 'दिव्य प्रबंधम्' का महत्व बताते हुए कहते हैं, ''भागवत् के मूल में भक्ति है। इसी भक्ति का प्रथम दर्शन भारतीय साहित्य के दिव्य प्रबंध में हुआ है।''[13] दिव्य प्रबंध आल्वारों की रचनाएँ है जिसमें भक्ति के चार सहस्र पद है।

2.2 भक्ति आंदोलन का विकास

भक्ति आंदोलन एक क्रांतिकारी आंदोलन था। जिसमें पहली बार जनता की विराट एकता तथा भारत की अखण्डता प्रदर्शित हुई थी। यह ऐसा आंदोलन था, जिसने संपूर्ण भारत

को प्रभावित किया। इसका उद्‌भव दक्षिण भारत में हुआ और समस्त भारत में फैल गया। तमिल साहित्य के इतिहास के अंतर्गत संगमकाल तथा नीतिकाव्यों के युग के पश्चात् जो युग आता है, वह भक्ति साहित्य का काल कहलाता है। मध्यकाल से पूर्व भारत के धार्मिक इतिहास तथा विचारधारा से ज्ञात होता है, कि हजारों वर्षों से भारत में वेदों की स्थापना और उसकी परंपरा मजबूत एवं मान्य रही है। भारत के ऋषियों एवं संतों पर वैदिक चिंतन का गहरा प्रभाव पड़ा है। ''वेदों को लेकर चिंतन और व्यवहार की एक ऐसी परिपाटी निर्मित हुई जिसके अंतर्गत ही लोग सोच पाते थे। गौतम बुद्ध जैसे क्रांतिकारी और सजग चिंतक ने मुक्ति के लिए नैतिक आचरण को न केवल अपनाया अपितु उसे व्यावहारिक रूप भी दिया।''[14] विद्वानों का मत है कि बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव धर्म प्रायः साथ–साथ ही उत्पन्न हुए और चारों के भीतर वैदिक कर्मकांड के विरूद्ध प्रतिक्रिया का कुछ न कुछ भाव था। सर्वप्रथम जैन धर्म और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति ने एक क्रांतिकारी विचारधारा को जन्म दिया। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक स्तर पर जाति भेद और ब्राह्मणों की सत्ता का विरोध करने के साथ–साथ वैदिक धर्म में हिंसापूर्वक यज्ञों का विरोध किया। जैन एवं बौद्ध धर्म से धर्म, साहित्य, संस्कृति यहाँ तक की राजानीति भी प्रभावित रही।

जैन एवं बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणवाद का प्रभाव

इतिहास में ईसा की छठी शताब्दी विश्व के विभिन्न देशों में महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। इस शताब्दी में धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन करने एवं समाज में नवजागरण लाने के लिए ईरान में जोराष्ट्र, चीन में कनफ्यूसियस व लावजे तथा भारत में महावीर व गौतम बुद्ध का अविर्भाव हुआ।

भारतीय संस्कृति के धर्मशास्त्रों के विषय में उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार सतीश चंद्र कहते हैं, ''धर्मशास्त्र (जो ब्राह्मणों अथवा उच्चजाति के विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे) एक दिशा की ओर संकेत करते थे और राजनीतिक वास्तविकताएँ दूसरी

दिशा की ओर। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक हिंदू शासक स्वतः ही धर्म की रक्षा करने के लिए बाध्य था जिसमें ब्राह्मणों की सुरक्षा, धर्मशास्त्रों का पालन और वर्ण व्यवस्था का समर्थन जैसी बातें भी शामिल थी।''[15] इसी वर्णव्यवस्था पर जैनों एवं बौद्धों ने आघात किया। इन्होंने मानव चरित्र की शुद्धता पर बल दिया और धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन किया। जैन एवं बौद्ध धर्म तत्कालीन लोकप्रिय धर्म बन गये क्योंकि इनके सिद्धांतों में सरलता थी। समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की भावना से प्रभावित होकर तत्कालीन राजाओं द्वारा इन धर्मों को आश्रय प्राप्त हुआ। दोनो धर्म समान रूप से असमानता, जातिपांति, वैदिक कर्मकांड के विरोधी थे।

राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार करने पर यह माना जा सकता है संभवतः छठी शताब्दी पूर्व से ही ब्राह्मणों का वर्चस्व था जिसे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न माना जाता है। ब्राह्मणों को विविध प्रकार की सुख सुविधाएँ प्राप्त थी ''विभिन्न शासक वर्गों को राजपूतों अथवा क्षत्रियों के रूप में मान्यता प्रदान करने के बदले में ब्राह्मणों को अपने भरण–पोषण और मंदिरों के निर्माण और रखरखाव के लिए भूमि और धन का उदार अनुदान प्राप्त होता था। इस युग में वैभवशाली मंदिरों का विकास न केवल पुनः उठ खड़ी होने वाली हिंदुत्व की लहर का बल्कि उससे भी ब्राह्मणों द्वारा नई–नई हासिल की गई ताकत और संपत्ति का सूचकांक था। ब्राह्मणों को और भी बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे : वे राजपुरोहित नियुक्त किए जाते थे और धर्म तथा राजतंत्र के मामलों में उनसे अकसर सलाह ली जाती थी।''[16] बौद्ध धर्म की प्रगति ने ब्राह्मणवाद की जड़े हिलाकर रख दी। बौद्ध धर्म की प्रगति के कारण आर्य ब्राह्मण धर्म विकसित नहीं हो पा रहा था। इन धर्मों को राजाश्रय प्राप्त होने के कारण ब्राह्मण इनकी ओर तीखी दृष्टि से देख रहे थे। यज्ञ बलि, धार्मिक कर्मकांड जो ब्राह्मणों की आय का मुख्य साधन था। उन पर बौद्ध राजाओं ने प्रतिबंध लगा दिया। ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई जाति प्रथा का निष्कासन हो रहा था। जैन एवं बौद्ध राजा सभी समभाव से अपनी प्रजा पर नियंत्रण स्थापित कर रहे थे। तीसरा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और शक्ति का स्रोत संस्कृत भाषा थी। जिस पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। तत्कालीन जैन एवं बौद्ध राजाओं के आश्रय में धर्म ग्रंथ जनसाधारण की भाषा प्राकृत और पालि में लिखे गए।

ब्राह्मणों ने बड़ी निपुणता से बौद्ध धर्म को नष्ट किया। एच. लाल अपनी पुस्तक 'भारत के आदिनिवासियों का इतिहास' में लिखते हैं, ''बड़ी संख्या में इन (आर्य) विदेशियों ने बौद्ध धर्म अपनाया जिसमें पुरोहित भी थे जो अपनी विद्वता के प्रभाव से बौद्ध विहारों और बौद्ध संघों के अध्यक्ष बन गये थे और उन्होंने बौद्ध धर्म के संघों पर कब्जा कर लिया था। फलतः बौद्ध संघ में बड़ी संख्या में पुरोहित वर्ग उत्पन्न हो गया था। उससे पहले मूलनिवासी बौद्ध तथागत बुद्ध की मूर्ति नहीं बनाते थे। उनकी उपस्थिति उनकी खडाऊँ की आकृति बनाकर या अश्व बना कर दर्शाई जाती थी। किंतु विदेशी बौद्ध भिक्षुओं ने गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा आरंभ कर दी और उन्हें शास्ता (गुरू) से देवता बना दिया। फलतः ऐतिहासिक बुद्ध आदिबुद्ध के अवतारों की श्रृंखला की अंतिम कड़ी के रूप में मान लिये, अतः वे अधिकाधिक पृष्ठभूमि में पड़ गये।''[17] बौद्ध धर्म के बढ़ते वर्चस्व से घबराकर समन्वय स्थापित करने के लिए ब्राह्मणों ने बुद्ध को भी विष्णु के अवतार की श्रेणी में शामिल कर लिया। उनकी भी मूर्तियाँ स्थापित होकर पूजा होने लगी।

दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के विकास में मंदिरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सतीश चंद्र दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''दक्षिण में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक लक्ष्य उतने अधिक ब्राह्मण और उनके कठोर रीति–रिवाज नहीं थे जितना कि बौद्ध और जैन थे; वे उस समय बहुत से दक्षिणी दरबारों में शक्तिशाली स्थिति में थे। पांड्य, चोल, होयसल और कलचुरी दरबार में नयनार और आलवार संतों के अनुरोध पर जैनों का निष्कासन और लोकप्रिय स्तर पर इन लोकप्रिय संतों द्वारा बौद्ध और जैन विचारों का मुकाबला करने का प्रयत्न, ब्राह्मणों के अनुकूल थे।''[18] यह आंदोलन कई स्थानीय शासकों के समर्थन से आगे बढ़ा। यह इसमें जैनियों एवं बौद्धों की आलोचना की गई जो कि एक प्रकार से ब्राह्मण वर्ग के अनुकूल था। मंदिरों के उदय के कारण ब्राह्मणों की स्थिति मजबूत हुई। मंदिरों को अत्यधिक अनुदान प्राप्त होता था। जिससे ब्राह्मणों का जीवन सुखमय था तथा वह उस राशि में से कृषकों को उधार स्वरूप भी धन देते थे जिससे कृषि का विस्तार हुआ तथा उनको भी ब्याज रूप में अतिरिक्त धन की प्राप्ति होने लगी। यहाँ तक की ब्राह्मण वर्ग ने व्यापार के क्षेत्र में भी भाग लिया। सतीश चंद्र के अनुसार, ''भूमि अनुदानों

एवं शाही उपहारों के कारण मंदिरों की स्थिति मजबूत हुई एवं ब्राह्मणों ने शासकों की शक्ति को वैधता प्रदान कर, शासकों की स्थिति को सुदृढ़ किया। तत्कालीन संदर्भ में शाही समर्थन का प्रयोग कभी–कभी जैनों और बौद्धों को उत्पीड़ित करने के लिए भी किया गया। इस प्रकार, पल्लव शासक महेंद्रवर्मन ने अपने दरबार से जैनों को निष्कासित करने के बाद एक जैन मठ को नष्ट कर दिया। एक अन्य शासक नेदुरमण के बारे में कहा जाता है कि उसने कई हजार जैनों को सूली पर चढ़ा दिया था।''[19] जैनों एवं बौद्धों पर तरह तरह के प्रहार हुए। उनकी संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न हुआ। जैन धर्म अभी तक भारत में कुछ अंशों में जीवित है किंतु बौद्ध धर्म तो भारत में एक प्रकार से लुप्त ही हो गया। बौद्ध धर्म जिसका अविर्भाव भारत में हुआ और जिसका प्रसार विश्व भर में हुआ। उस धर्म का भारत से निर्वासन एक अद्‌भुत घटना के रूप में सामने आता है।

बौद्ध धर्म का क्षय

बौद्ध धर्म छठी शताब्दी का एक शक्तिशाली धर्म था। जिसे आगे चलकर ब्राह्मणों द्वारा हिंदू धर्म की एक शाखा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। अंततः इस शाखा को ही काट कर अलग कर दिया गया वह भी उनकी ही पद्धति से। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' पुस्तक में हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं, ''बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वेदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं..... ये आचार्यगण दार्शनिक पंडित थे, इनकी प्रतिभा और विद्वता अनुपम थी। इसलिए इनके द्वारा बौद्ध धर्म के निर्वासन और निरसन का यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धिजीवियों और ऊपरले स्तर के लोगों के मन पर से बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्ति–जाल की आस्था उठ गई। ये लोग असल में बौद्ध तत्त्ववाद के समर्थक थे, भक्तिवाद के नहीं। पर साधारण जनता का तत्त्ववाद से कोई संबंध नहीं था। ऐसा हो सकता है कि राजा लोग जब बौद्ध तत्त्ववाद के कायल नहीं रहे तब बड़े–बड़े बौद्ध मठ, जो अधिकांश में राजकीय सहायता से चल रहे थे, उठ गए होंगे।''[20]

बौद्ध एवं जैन धर्मों को इन दार्शनिक आचार्यों ने शास्त्रार्थ द्वारा राजदरबारों में पराजित किया। जिससे इनकी सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। इसी तथ्य को 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''बहुत से राजाओं ने बौद्ध धर्म या जैन धर्म को अपनाया और विहारों के संरक्षक बन गए। परंतु पाँचवी और नौवी शताब्दियों के बीच दक्षिण में सामंतवाद के उदय से आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों से बौद्ध और जैन धर्म का क्षय होने लगा।''[21] बौद्ध और जैन धर्म दोनों ही एक सात्विक उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ रहे थे। किंतु धीरे–धीरे इन धर्मों में विकृतियाँ आ गई। बौद्ध धर्म दो भागों महायान और हीनयान में विभक्त हो गया। महायान में बोधिसत्त्व की कल्पना की गई, जिसकी प्राप्ति के लिए बुद्ध के चित्रों और मूर्तियों की पूजा को आवश्यक माना गया। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय भक्ति प्रधान एवं ईश्वरवादी बन गया।

इस महायान सम्प्रदाय का रूप भी धीरे–धीरे बदलता गया और इसमें तन्त्र–मन्त्र का समावेश हो गया। महायान सम्प्रदाय के अंतर्गत एक नवीन सम्प्रदाय मंत्रयान का जन्म हुआ, ''जिसमें पंच मकारों–मद्य, माँस, मीन, मुद्रा, मैथुन–के उपयोग की स्वीकृति थी। मन्त्रयान की परिणति वज्रयान में हुई। इसमें 'प्रज्ञा' को स्त्री और 'उपाय' को पुरुष मान कर 'ज्ञान प्राप्ति' के लिए दोनों के मिलन को महासुख का नाम देकर आवश्यक ठहराया गया है, इसमें पुरूष और स्त्री रति–लीन मुद्रा में युग–नद्ध रहते हैं। यही अद्वय–स्थिति ही मैथुन है यही महासुख है।''[22] मंत्रयान के विकास की एक ऐसी चरमावस्था आ गईं जब कि वह 'भैरवी चक्र' के रूप में सदाचार की अवहेलना करने लगा और फलतः वह वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया। वज्रयान के प्रचारकों में प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की गणना की जाती है, जो कि अपनी अलौकिक शक्ति सम्पन्नता, सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। इन सिद्धों में प्रायः सभी वर्ण के साधक थे तथा शूद्रों की तो अधिकता ही थी अतः स्वाभाविक ही इनमें वर्ण–भेद और वर्ग–भेद की भावना न थी। इसी वज्रयान सम्प्रदाय का विकास सिद्धों के सहजयान सम्प्रदाय के रूप में हुआ। ''सिद्धों ने यद्यपि काया–साधना, गुरूभक्ति, शक्ति की उपासना तथा सहजानन्द में महासुख की कल्पना आदि का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया परन्तु बाह्याचार उनका भी रतिवादी था। वे लोग भी साधना के लिए पंच मकारों का सेवन

आवश्यक समझते थे। यद्यपि चाण्डाली, डोम्बी, योगिनी, सुन्दरी आदि शब्द सिद्धों की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक थे तथापि सर्वसाधारण तो उनका अभिधापरक अर्थ लेता था।''[23] इन्हीं सिद्धों की प्रतिक्रिया स्वरूप नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ। नाथ सम्प्रदाय विशुद्ध आचारवादी था एवं हठयोग दर्शन को लेकर चला था।

बौद्धिक स्तर पर बुद्ध के चिंतन की जडे हिलाने वाले और वह भी उन्हीं की पद्धति से, में शंकराचार्य का नाम अग्रगण्य माना जाता है ''बौद्धों का प्रभाव घटाने तथा वेदों, ब्राह्मणों की महत्ता को स्थापित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धांत पर जोर दिया। अद्वैतवाद का आधार है कि ब्रह्म सत्य है जगत मिथ्या है, आत्मा–परमात्मा ही है, वह उससे भिन्न या पृथक नहीं है।''[24] बौद्धों का शून्यवाद ही शंकर का मायावाद माना जाता है। किंतु शंकराचार्य ने वेदों की सत्ता स्थापित करने के लिए अनेकों शास्त्रार्थ किए उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और कुशल व्यक्तव्य के समक्ष अन्य धर्मों के दर्शन और विचारधाराएँ कमजोर पड़ने लगी। यद्यपि शंकर के अद्वैतवादी दर्शन का देशव्यापी महत्व उल्लेखनीय है तथापि यह जनसाधारण की समझ से परे है। मजबूत दर्शन और विचारधारा के बावजूद शंकर जनता के मन में स्थान न पा सके, जिसका कारण यह है कि शंकराचार्य ब्राह्मणवाद के समर्थक रहे। उन्होंने शूद्रों के साथ हो रहे अनुचित व्यवहार का कभी विरोध नहीं किया अपितु उसके पक्षधर रहे। ''शंकर ने अद्वैतवाद का प्रचार कर सगुणोपासना का अप्रत्यक्ष रूप से विरोध किया परंतु शंकर का निर्गुण ज्ञानवाद मन में बैठी निराशा से मानव को मुक्ति नहीं दे सका।''[25] शंकराचार्य के निर्गुण ज्ञानवाद से जनता के मन में जो निराशा उत्पन्न हुई थी, उसमें आशा का संचार शैव तथा वैष्णव संतों की भक्ति भावना ने किया। ताराचंद अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' में लिखते हैं, ''शैव और वैष्णव संत मिलकर लोगों को बौद्ध और जैन धर्म से हटाकर शिव और विष्णु की पूजा के लिए उन्मुख करने लगे... ..... उनकी कविताएँ आम लोगों की भाषा में थी और इसमें और अन्य बातों में वे उन धर्मों के प्रति बहुत ऋणी थे, जिन्हें उन्होंने उखाड़ना चाहा। उन्होंने बौद्ध धर्म से उनकी भक्ति, जगत की क्षणभंगुरता का विचार, मानवीय निरर्थकता की अवधारणाएँ, कामनाओं का दमन और तपस्या तथा कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, स्तूप तथा लिंगम, मंदिर, तीर्थ, उपवास, श्रमण संबंधी नियम

और सभी जातियों की समाानता का विचार लिया और जैन धर्म से उन्होंने नैतिकवादी स्वर तथा अन्य सभी प्राणियों के प्रति सम्मान की भावना ली।''[26] इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्म से शैव तथा वैष्णव संतों ने सभी के प्रति समानता तथा सम्मान की भावना की विचारधारा को ग्रहण किया, किंतु बौद्ध तथा जैन दोनों ही निर्गुण तत्त्व को मानते थे जिनके यहाँ सगुण भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। रोमिला थापर, पुस्तक 'भारत का इतिहास' में लिखती हैं, 'जैन और बौद्ध मतों का स्थान शनैः–शनैः धार्मिक उपासना के एक नए रूप– तमिल संतों के भक्ति संप्रदाय ने ले लिया जो आगे चलकर भक्ति आंदोलन कहलाया। भक्ति का यह रूप ईश्वर और मनुष्य के पारस्परिक संदेश से निर्मित हुआ था, जिसका आधार प्रेम था और यह एक ऐसा संबंध था जिस पर इससे पूर्व की हिंदू विचारधारा ने इतना अधिक बल कभी नहीं दिया है।''[27] सगुण मत की स्थापना में शैव तथा वैष्णव संत दोनों का अमूल्य योगदान रहा है।

शैव भक्त नयनमार कहलाते थे जिनकी संख्या तिरसठ थी तथा आल्वार संत वैष्णव संप्रदाय से संबंधित थे जो संख्या में बारह थे। भक्ति आंदोलन इन्हीं नायनमार और आल्वार संतों के भावात्मक अनुराग का परिणाम था, जो सातवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य उत्पन्न हुआ। प्रो. ताराचंद का कथन है कि ''आल्वारों की कविताएँ धर्म के बाहरी आचरण, उपवास, और तीर्थयात्रा की और कभी–कभी मूर्तिपूजा और उपासना में असमानता की निंदा करते हैं।''[28] आल्वारों ने कर्मकाण्ड, आडम्बरों तथा असमानता की तो निंदा की है लेकिन मूर्तिपूजा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'पूर्व मध्यकालीन भारत' पुस्तक में प्रशांत गौरव लिखते हैं, ''आरंभिक भक्ति आंदोलन के प्रचार प्रसार में श्रीरंगम स्थित रंगनाथ स्वामी की प्रमुख भूमिका रही। आल्वार परंपरा के अंतिम सात आल्वारों का संबंध श्रीरंगम मंदिर से रहा।''[29] शैव तथा वैष्णव संत सगुण भक्ति के उपासक थे, फिर भी दोनों की विचारधारा में अंतर था, दोनों ही मत स्वंय को श्रेष्ठ सिद्ध करते थे। शैव भक्त, शिव को ही श्रेष्ठ स्वीकार करते थे। वैष्णव संत केवल विष्णु की उपासना को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते थे। 'मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन', पुस्तक में शहाबुद्दीन इराकी स्पष्ट करते हैं, ''विपरीत विचारधारा होने के बावजूद वैष्णवों और नायनमारों ने आध्यात्मिक स्तर पर अपने–अपने ढ़ग से दक्षिण भारत में भक्ति चिंतन के विकास के लिए कठोर परिश्रम किया। यद्यपि भक्ति चिंतन के

प्रारंभिक चरणों में शैववाद का प्रभुत्व था। परंतु बाद में वह पूर्ण रूप से वैष्णववाद के अधीन हो गया।''[30] शैववाद पर वैष्णववाद के प्रभुत्व का कारण स्पष्ट करते हुए शहाबुद्दीन इराकी कहते हैं, ''शैव और वैष्णव मतों के बीच धार्मिक प्रतिद्वंदिता और चोलों का वैष्णव मत के प्रति आकर्षण बाद में भी जारी रहा।'[31] निःसंदेह किसी भी प्रकार की परिस्थिति का प्रभाव चाहे वह आर्थिक हो, राजनीतिक हो या धार्मिक जनता पर भी प्रत्यक्ष असर करती है। तत्कालीन चोल राजाओं के शासनकाल में वैष्णव धार्मिक संप्रदाओं से प्रभावित होकर ही जनता में वैष्णव भक्ति का प्रचार–प्रसार अधिक हुआ।

दक्षिण के संतों में विष्णुस्वामी, रामानुज, निम्बार्कचार्य, माध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने बढ़–चढ़कर वैष्णव भक्ति का प्रचार–प्रसार किया। ब्रह्मसूत्रों और उपनिषद्ों का आधार बनाकर रामानुज तथा अन्य वैष्णवों ने मायावाद का खंडन किया। परमात्मा इस संसार का रचने वाला और उसका नाश करने वाला है। जीव और प्रकृति उसके शरीर के समान है। रामानुज के विचार से उपनिषदों में जो चीज़ उपासना कहलाती थी, वही उनके समय में भक्ति थी।'[32] रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन कर आत्मा को परमात्मा से भिन्न तथा परमात्मा को सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण विशिष्ट माना। 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पुस्तक में रामकुमार वर्मा इन संतों के विषय में प्रकाश डालते हैं, ''आगे चलकर निंबार्क ने इस विष्णु रूप की अपेक्षा कृष्ण रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया और उसने राधा के स्वरूप को भी जोड़ दिया। तेरहवीं शताब्दी के माध्वाचार्य ने इस विचार को और भी अधिक महानता दी। रामानंद ने दूसरी ओर विष्णु के रामरूप का प्रचार किया और उनकी भक्ति को अधिक महत्व दिया। सोलहवीं शताब्दीं में वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भावना पर जोर दिया।''[33] इन सभी संतों की विचारधाराओं पर वैष्णव संत आल्वारों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। इन सभी संतों ने वैष्णव भक्ति के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बच्चन सिंह, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में लिखते हैं, ''जो भी हो, इन सभी भक्ति आंदोलनों से जनता में आत्मविश्वास जागा और उच्च वर्ग के सामने निम्न वर्ग, जिसमें स्त्री भी शामिल है, अपने प्रति सम्मान का भाव लेकर खड़ा हुआ। भक्त कवियों ने जीवन की नीरसता में रस घोलकर कुंद होती हुई संवेदना को नया जीवन दिया।''[34] भारतीय संस्कृति में समानता

की भावना चाहे वह स्त्री संबंधी हो या दलित संबंधी, उसका क्रांतिकारी स्वरूप भक्ति आंदोलन से आरंभ होता है।

भक्ति का निर्गुण एवं सगुण स्वरूप

यह आंदोलन भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण आंदोलन रहा। इस आंदोलन द्वारा जाति प्रथा को धक्का लगा और निम्न जातियों में आत्म गौरव का भाव भी जागा। यह आंदोलन सामाजिक विषमता को मिटाकर सामाजिक समता का संदेश देता है। जाति–पाति, ऊँच–नीच, अमीर–गरीब, स्त्री–पुरुष के भेद को स्वीकार नहीं करता। इसी कारण भक्ति आंदोलन जाति, प्रदेश, कुल, अवस्था और विद्या की सीमाओं को लांघकर व्यापक हो सका और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक एक नई संवेदना के तार झंकृत कर सका।

डॉ. रामविलास शर्मा पुस्तक 'परंपरा का मूल्यांकन' में भक्ति को अखिल भारतीय बताते हुए कहते हैं, ''देश और काल की दृष्टि से ऐसा व्यापक आंदोलन संसार में दूजा नहीं है।''[35] भक्ति आंदोलन सिंध, कश्मीर, पंजाब, बंगाल, असम, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र, उड़ीसा, तमिलनाडु आदि संपूर्ण देश में व्याप्त रहा। साथ ही यह आंदोलन वैविध्यपरक था तथा इसमें दो विभिन्न भक्ति धाराएँ दृष्टिगोचर होती है– निर्गुण संत परंपरा तथा सगुण संत परंपरा। निर्गुण संत परंपरा भी दो भागों में विभक्त है ज्ञानमार्गी शाखा एवं प्रेममार्गी शाखा। ज्ञानमार्गी संतों की श्रेणी में कबीर, नानक, दादू, पीपा, धन्ना, रैदास आदि संत आते हैं। जिन्होंने समाज में एक नई विचारधारा का विकास किया जिनका सुधारवादी दृष्टिकोण रहा। इन्होंने साखी, सबद, रमैनियों के माध्यम से जनता का मार्गदर्शन किया। प्रेममार्गी शाखा में सूफी संत आते हैं जिन्होंने भक्ति में एक नए भाव बोध का प्रवेश कराया, जिसे प्रेम भाव कहा जाता है। सूफी संतों में मुईनुद्दीन चिश्ती, निज़ामुद्दीन औलिया आदि प्रमुख संत आते हैं। सूफी संतों ने हिंदू कहानियों को माध्यम बनाकर लौकिक से अलौकिक की साधना की।

सगुण भक्तिधारा के अंतर्गत राम तथा कृष्ण की भक्ति मुख्य रूप से उल्लेखनीय रही है। वल्लभ, तुलसी, सूर, मीरा, चैतन्य आदि भक्तों ने राम तथा कृष्ण की भक्ति पर विशेष बल दिया।

सगुण और निर्गुण भक्ति दोनों की विचारधाराएँ समान थी। दोनों की ही भक्ति का उद्‌देश्य परमात्मा से संबंध स्थापित करना था तथा दोनों ने ही मोह माया के बंधनों का त्याग कर स्वंय को परमसत्ता के समर्पित कर दिया था। गुरू की महत्ता को दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं। रोमिला थापर उल्लेख करती हैं, ''सूफियों के रहस्यवाद को भक्ति संप्रदाय के समस्त संतों ने प्रोत्साहित नहीं किया, क्योंकि इन संतों का उद्‌देश्य जनता से पृथक रहना नहीं था, बल्कि वे अपने उपदेशों को इतना सरल बनाना चाहते थे कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी उन्हें समझ सके।''[36] सूफी संतों ने रहस्यवाद पर अधिक बल दिया, जो साधारण जनता की समझ में कठिनाई से आता था, वहीं भक्त कवियों की साधारण वाणी जनमानस में अधिक गहराई से पैठ कर पाई।

उत्तर भारत में 'वर्करी' आंदोलन चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में नामदेव के साथ प्रारंभ हुआ। निर्गुण मत के समर्थक मराठी संत भक्त कवियों की प्रगतिशीलता सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि उल्लेखनीय है। इन संत कवियों में पाँच मराठी संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास की विशेष चर्चा होती है। यद्यपि इन संतों पर नाथ पंथ का प्रभाव रहा। विठोबा की उपासना करने वाले इन वर्करी संप्रदाय के संतों का केंद्र पंढ़रपुर रहा। वर्करी संप्रदाय के भक्तों ने लोक–परलोक को सुधारने का उपाय नाम संकीर्तन को बताया है। नाम स्मरण की साधना का विट्‌ठल सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। ''ज्ञानदेव और नामदेव दोनों संतों में उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थ–स्थलों को देखते हुए उत्तर भारत की ओर भी पर्यटन किया था। उस समय उत्तर भारत मुसलमानों के आतंक से त्रस्त था। इन दोनों संतों ने हिंदुओं के तीर्थस्थानों का विध्वंस एवं मूर्तियों का खंडित किया जाना अपनी आँखों से देखा। नामदेव का कथन है–'पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोडा–मरोडा और पानी में डुबो दिया। फिर भी वे न तो क्रोध करते हैं, न क्रंदन करते है। हे ईश्वर! मैं ऐसे दवताओं का

दर्शन नहीं चाहता।' अतः नामदेव के हृदय में इन देवताओं की सकारोपासना के प्रति कोई श्रद्धा शेष नहीं रही।''[37]

महिला संतों में अक्कमहादेवी कन्नड़ वचनकारों में इस भाषा की पहली कवयित्री हुई। कश्मीर की भक्त कवि ललद्यद की दार्शनिक चेतना अत्यंत प्रखर थी। भक्ति का प्रसार विविध आयामों द्वारा हुआ। असम के शंकरदेव जो पंद्रहवीं शताब्दी में हुए, उन्होंने असमिया भाषा को लोकप्रिय बनाया। बंगाल के चैतन्य, राधा कृष्ण की भक्ति में डूबे रहते थे। उन्होंने देश भर में यात्रा करके जनता में वैष्णव मत की शिक्षाओं का प्रचार किया।

प्रेम, ज्ञान, वैराग्य, सगुण आदि भक्ति की शाखाओं में उस समय भेदभाव अवश्य थे, किंतु वे सब एक व्यापक आंदोलन के अंतर्गत थे। रामविलास शर्मा कहते हैं, ''भक्ति आंदोलन विशुद्ध देशज आंदोलन है। वह सामंती समाज की परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था, वह मूलतः इस सामंती समाज व्यवस्था से विद्रोह का साहित्य है।''[38] विद्वगण अपने–अपने मतानुसार भक्ति को पश्चिमी संस्कृति की देन बताते हैं। इसे ईसाईमत अथवा इस्लाम से आई भावना स्वीकार करते हैं। इस बात का खंडन करते हुए रामविलास शर्मा इसे एक शुद्ध देशज आंदोलन मानते हैं, जो सामंती व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ। 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''यह शुद्धतः एक धार्मिक आंदोलन नहीं था। वैष्णवों के सांस्कृतिक क्षेत्र में, उन्होंने राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया। सामाजिक विषय वस्तु में वे जाति प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे।''[39]

उत्तर भातर में सूफी मत के उदय ने सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की। मुस्लिम जनता की भांति हिंदू जनता ने भी सूफीयों के मत का स्वागत किया। उनके आदर्शवादी जीवन से भारतीय जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। डॉ. मलिक मोहम्मद अपनी पुस्तक 'वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन में चार सूफी सम्प्रदायों की चर्चा करते हैं–

''1. चिश्ती सम्प्रदाय (12वीं शती के उत्तरार्द्ध में प्रचारित) सर्वप्रथम प्रचारक मुइनुद्दीन चिश्ती

2. सुहारावर्दी सम्प्रदाय (13वीं शती के पूर्वार्द्ध में संगठित) सर्वप्रथम प्रचारक जियाउद्दीन अबुल

नजीब तथा अब्दुल कादिर

3. कादरी सम्प्रदाय (15वीं शती के उत्तरार्द्ध में पोषित) सर्वप्रथम प्रचारक शेख अब्दुल कादर जिलानी

4. नक्शबंदी सम्प्रदाय (16वीं शती के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित) सर्वप्रथम प्रचारक ख्वाज़ा बहाउद्दीन नक्शबंद''[40]

राजमल बोरा भी भक्ति आंदोलन को नवजागरण स्वीकार करते हुए कहते हैं, ''हमारे देश में जब–जब अंधकार के युग आए हैं उस–उस समय नई चेतना भी आई है वह आंदोलन कहा गया, जागरण कहा गया, पुर्नजागरण कहा गया और नवजागरण कहा गया।''[41] दक्षिण और उत्तर में उत्पन्न लोकप्रिय भक्ति आंदोलन अपनी–अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुए एवं विकसित हुए। भक्ति आंदोलन ने विभिन्न धर्मों एवं विभिन्न भाषाओं के लोगों को न केवल एकजुट किया अपितु व्यापारी वर्ग एवं सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध मिलकर विद्रोह किया। जाति–पाति एवं ऊँच–नीच के भेदभाव को समाप्त करना इस आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य था। भक्ति आंदोलन की उत्पत्ति का हिंदू धर्म में आत्मसुधार के प्रयास के रूप में देखना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति के विकास में इस आंदोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा तथा सामंती दमन एवं उत्पीड़न के विरूद्ध संयुक्त संघर्ष करने का मार्ग भी प्रशस्त किया।

भक्ति आंदोलन के उद्भव विषयक मत

भक्ति आंदोलन का भारतीय धर्मों के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। अनेकानेक विशेषताओं के साथ इसकी एक प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता यह है कि अनेक मध्यांतरों, उत्थान–पतनों एवं स्थान परिवर्तनों के होते हुए भी यह औपनिषिदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक गतिमान रहा है। विद्वानों ने भक्ति आंदोलन के उद्भव संबंधी अपने अपने मत दिए है। जार्ज ग्रियर्सन ने भक्ति आंदोलन को भारत का विशाल एवं व्यापक आंदोलन

बताते हुए कहा है, ''बिजली की चमक के समान अचानक इन समस्त धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी उसके प्रादुर्भाव के कारण का निश्चय नहीं कर सकता।''[42] जार्ज ग्रियर्सन भक्ति आंदोलन को ईसाई मत के प्रभाव का परिणाम मानते हैं। आचार्य रामाचंद्र शुक्ल मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति का उदय मानते हुए कहते हैं, ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[43] इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी ने हिंदी भक्ति काव्य के प्रादुर्भाव के लिए विदेशी मुस्लिम साम्राज्य की प्रतिष्ठापना को मूल कारण माना है, परंतु उस समय की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से जो चित्र उभर कर सामने आता है वह ठीक इससे विपरीत है। मुस्लिम शासनकाल में भी हिंदू धर्म का अंश बचा रहा। 'हिंदी साहित्य के इतिहास' से विदित होता है कि भक्तिकाल के साहित्य सृजन में भाटों एवं राजकवियों ने गहरी उदासीनता व्यक्त की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में इस बात का खंडन किया है वह इसे इस्लाम की प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया काव्य नहीं मानते, वह जोर देकर कहते है कि ''अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।''[44] किंतु इससे यह स्पष्ट होता है कि वह चार आने इस बात को स्वीकार रहे है। आगे द्विवेदी जी, डॉ. ग्रियर्सन और शुक्ल जी के तर्क को उपाहास्पद मानते हुए कहते हैं, ''यह बात उपाहास्पद है और यह कहना तो और भी उपाहास्पद है कि जब मुसलमान हिंदू मंदिरों को नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिंदू लोग भजन–भाव में जुट गए..... जिस बात को ग्रियर्सन ने अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना लिखा है वह वैसी नहीं। उसके

लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखंड एकत्र हो रहे थे। फिर भी उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया।'[45]

संभवतः मुगल साम्राज्य की स्थापना उसका प्रचार प्रसार एवं धार्मिक अत्याचार भक्ति आंदोलन के उदय होने में उतना योगदान नहीं देता। जितना चौदहवीं शताब्दी की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थतियों का योगदान है। दक्षिण के आचार्य रामानंद के भक्ति प्रचार के साथ जब एक समाजसुधारवादी आंदोलन आरंभ हुआ, तब दक्षिण से उमड़कर आने वाली भक्ति धारा जो वैष्णव आचार्यों के माध्यम से उत्तर भारत तक आई, हिंदू धर्म को इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक सरल व आकर्षक तत्त्वों को प्रदान किया।

2.3 वैष्णव भक्ति का उद्‌भव और विकास

हिंदू धर्म में वैष्णव संप्रदाय का एक विशिष्ट स्थान है। यह संप्रदाय किसी न किसी रूप में भारत के प्रत्येक भाग में प्रचलित है। वैष्णव धर्म विष्णु की भक्ति उपासना पर आधारित है। उसमें विष्णु के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है। वैष्णव धर्म के उद्‌भव को इतिहास ने अनुमानतः व्यक्त किया है क्योंकि इतिहास के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के शब्दों में, ''ब्रह्मा ने जब सृष्टि का निर्माण किया, तो क्षीर सागर में सहस्रफण शेषनाग पर निद्रामग्न विष्णु जाग उठे। उन्होंने सर्वोच्च स्वर्ग में अपना निवास स्थान बनाया, जहाँ से वे सृष्टि को देखते हैं और समय–समय पर जब पापों का भार बढ़ जाता है, तो वह मनुष्य की रक्षा के लिए विविध रूप धारण करके अवतार लेकर उनके बीच आते हैं।'[46] ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और शिव को सृष्टि के संहारक देव के रूप में जाना जाता है। डॉ. शैल प्रधान के अनुसार, ''विष्णु सर्वप्रथम वैदिक काल में एक साधारण देवता के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ऋग्वेद में कई स्थलों पर वे आदित्य मात्र समझे जाते हैं और दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों द्वारा ही पूरी कर देने के कारण ही उस युग में उनका यशोगान प्रतीत होता है।''[47] ऋग्वेद जोकि प्रथम एवं प्राचीन वेद है। उसमें विष्णु का स्थान गौण है।

डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा ऋग्वेद में विष्णु के स्थान का उल्लेख इस प्रकार करते हैं, ''ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। उनके विषय में केवल पाँच सूक्त आए है तथा उनके नामों का उल्लेख सौ ही बार हुआ है।''[48] ऋग्वेद में जहाँ विष्णु को गौण स्थान प्राप्त है। वहीं उत्तर वैदिक काल में विष्णु का महत्व बढ़ गया। डॉ. शैल प्रधान के अनुसार, ''यह मुख्य यज्ञ के साथ उनकी तद्रुपता के कारण हुआ। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि विष्णु सर्वप्रथम यज्ञ फल को समझ गए और उनके द्वारा देवताओं के सिरमौर बन गए। उनका सिर उन्हीं के द्वारा कटकर सूर्य बन गया।''[49] इसी प्रकार डॉ. पी. जयरामन भी विष्णु को यज्ञ पुरुष के रूप में स्थापित करते हुए कहते हैं, ''वैदिक संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मणकाल में जब यज्ञ संस्था का अपार विकास होने लगा। ब्राह्मणयुग कर्मप्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अंग था। इस युग में आकर विष्णु यज्ञ रूप हो गए, यज्ञो वै विष्णुः।''[50] विष्णु उत्तर वैदिक काल में यज्ञ देवता के रूप में प्रतिष्ठापित हो गए। उनका महत्त्व बढ़ गया। ऐसा माना जाता है, वैदिक काल में मंदिरों और मूर्तियों का अभाव था। डॉ. पी. जयरामन के अनुसार, ''मनुष्य प्राकृतिक और अध्यात्म शक्तियों का साक्षात् दर्शन और अनुभव करता था। अतः उसे मूर्ति जैसे प्रतीक और उसके संस्थान मंदिर की आवश्यकता नहीं थी। संभवतः देवताओं की दारू निर्मित प्रतिकृतियाँ यज्ञीय अवसरों पर बनती थी।''[51] जहाँ वैदिक काल में मूर्तियों का प्रयोग केवल यज्ञ के समय होता था, वहीं मध्यकाल में भगवान धरती पर उतर आते है और मनुष्य द्वारा उनकी रक्षा की कामना की जाती है। उन्हें मंदिरों में मूर्तियों के रूप में प्रतिष्ठापित किया जाता है। उनको भोग लगाया जाता है एवं उनका गुणगान किया जाता है। आल्वार संत पेरियाल्वार ने भी पल्लाण्डु–पल्लाण्डु (जुग–जुग जीयो) रक्षा स्त्रोत का पाठ कर भगवान नारायण की रक्षा की कामना की है।

विष्णुपुराण, ब्राह्मवैवर्तपुराण और श्रीमद्भागवतपुराण में विष्णु को सबसे उच्च स्थान देकर उनके गुणों एवं महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है, ''विष्णु संरक्षक हैं, सहस्रनाम वाले हैं, उनके नामों का जप भक्त लोग हमेशा करते हैं। उनकी स्त्री लक्ष्मी, स्थान वैकुंठ और वाहन गरूड़ है। वे सुंदर, कोमल, श्यामवर्ण, चतुर्भुज है; हाथों में पंचजञ्य, सुदर्शन,

गदा, पद्म है, वक्ष पर कौस्तुभ मणि है, कभी लक्ष्मी के साथ कमल पर, कभी सर्पशय्या पर, कभी गरूड़ पर आसीन दिखाई देते हैं।''[52]

उत्तरवैदिक काल में विष्णु का मानवी स्वरूप वैष्णोपासना के रूप में प्रचलित हुआ। वैष्णव धर्म के जन्म और उत्थान के मूल में चार विचारधाराओं का योगदान रहा है। पं. रघुवीर शर्मा इन चार विचारधाराओं के विषय में कहते हैं, ''प्रथम विचारधारा के मूल स्त्रोत वैदिक देवता विष्णु थे, दूसरी विचारधारा के आधार दार्शनिक देवता नारायण थे, तीसरी विचारधारा के अधिष्ठान ऐतिहासिक देवता वासुदेव थे और चौथी विचारधारा के स्रोत आभीर देवता बाल गोपाल थे। इन चारों विचारधाराओं में वैदिक देवता 'विष्णु' को ही एक मात्र ऐसा देवता माना है जिनकी ख्याति पीड़ित मानवों के रक्षक के रूप में प्रचलित थी।''[53] यहाँ भक्ति को विष्णु, नारायण, वासुदेव, बालगोपाल चार विचारधाराओं में विभक्त किया है। तथा दूसरी ओर डॉ. पी. जयरामन वैष्णव भक्ति के विकास क्रम में विष्णु और नारायण दोनों को अभिन्न मानते हैं और दोनों को एक ही देवता के दो नामों के रूप में स्वीकार करते हैं। विष्णु को महत्तम पद प्रदान करते हुए ही उन्हें नारायण नाम दिया गया। ''विष्णु को यज्ञादि से ऊपर उठकर दैनिक जीवन के क्रियाकलापों में कल्याणकारी देवता के रूप में स्वीकार किया गया। विष्णु के संबंध में कहा गया है कि यह भूमि के देवता है वे मनुष्य को भूमि वितरित करते हैं। उनकी कृपा से ही मानव को धन सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। वे मानव का कल्याण चाहने वाले देवता हैं विष्णु गर्भ के रक्षक हैं।''[54] गर्भ रक्षक होने के फलस्वरूप इनकी उपयोगिता मानव जीवन में बढ़ जाती है। विष्णु को एक उदार, रक्षक, दानी एवं सर्वशक्तिमान देवता के रूप में चित्रित किया गया है।

सुवीरा जायसवाल ने 'वैष्णव धर्म के उद्भव एवं विकास' पर गहन अध्ययन किया है। जिसमें उन्होंने शिलालेखों, मुद्राओं, मोहरों तथा अन्य ऐतिहासिक अवशेषों से प्राप्त साक्ष्यों की सहायता ली है। पौराणिक कथा रामायण के माध्यम से सुवीरा जायसवाल स्पष्ट करती हैं, ''रामायण जिसकी रचना किसी ऋषि ने अनुमानतः ई० पू० तीसरी शताब्दी में की थी। इस समय ब्राह्मणों के धर्मशास्त्र में इंद्र को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, विष्णु को नहीं। उनके देवत्वरोपण तथा विष्णु के साथ उनकी अभिन्नरूपता की प्रस्थापना परिवर्धित प्रतिपत्तांशों

द्वारा बाद में की गई।''[55] रामायण के बाद महाभारत को वैष्णव धर्म की जानकारी देने में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विद्वानों ने विष्णु और नारायण दोनों को एक ही स्वीकार किया है। डॉ. पी. जयरामन कहते हैं, कि वैदिक विष्णु एवं नारायण का ही विकसित समीकृत रूप महाभारत काल में हमें मिलता है। जहाँ उन्हें महत्तम पद प्रदान किया गया है। भले ही नारायण का उल्लेख वेदों में नहीं किया गया है, महाभारत में आकर नारायण की सर्वोपरिता सिद्ध की गई है। महाभारत में विष्णु को नारायण कहकर उनके महत्व का गुणगान किया गया है।''[56] कहने का आशय है विष्णु और नारायण अलग–अलग नहीं है अपितु एक ही रूप के दो नाम है विष्णु का गुणगान करते हुए उन्हें नारायण नाम से संबोधित किया गया है। ''नारायण का उल्लेख सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में हुआ है। यह माना जाता है कि जिस प्रकार क्रमशः वैदिक देवता रूद्र और अवैदिक देवता शिव शंकर का समीकरण हुआ उसी प्रकार वैदिक विष्णु तथा अवैदिक नारायण का भी समीकरण कालांतर में हो गया। यह समीकरण प्रक्रिया महाभारत में आकर पूर्ण हो गई।''[57]

विष्णु को श्रेष्ठ स्थान पर पहुँचाने में भृगु ऋषि के योगदान को स्पष्ट करते हुए सुवीरा जायसवाल कहती हैं, ''भागवत पुराण में वर्णित है कि ऋषियों ने भृगु को किस प्रकार देवताओं में सबसे श्रेष्ठ का पता लगाने का कार्य सौंपा था। उन्होंने ब्रह्मा, शिव और विष्णु तीन देवताओं का साक्षात्कार किया और अंत में नारायण विष्णु को सर्वश्रेष्ठ घोषित कर दिया।''[58]

वैष्णव धर्म एवं भक्ति के उद्‌भव के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है लेकिन प्राचीन वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक इसका विकास निरंतर होता रहा है। ऋग्वेद में जहाँ इंद्र को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है। तथा विष्णु गौण देवता होता है। वहीं उत्तर वैदिक काल में आकर यज्ञों की महत्ता के फलस्वरूप ब्राह्मणों द्वारा इन्हें सर्वोच्च पद प्राप्त हो जाता है। पं. रघुवीर शर्मा कहते हैं, ''वैष्णव धर्म आर्यों की धार्मिक व्यवस्था की ही उपज है। यह पूर्णरूपेण आर्यमत है।''[59] वैष्णव धर्म एक आस्तिकवादी मत है जहाँ विष्णु के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है। भारत की धार्मिक परंपरा में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

2.4 वैष्णव संप्रदाय : पांचरात्र मत

विष्णु भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म का प्राचीन नाम भागवत धर्म या पांचरात्र मत है। इस संप्रदाय के प्रधान उपास्य वासुदेव हैं जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज इन छः गुणों से सम्पन्न होने के कारण भगवान या भागवत कहा गया है। पांचरात्र सिद्धांत का संबंध ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से है। पांचरात्र मत का विकास तीसरी शती ई० पू० माना जाता है। ''इस सिद्धांत के अनुसार सकल विश्व का बीज प्रलय के रूप में भगवान वासुदेव में समाहित है। पांचरात्र में परम तत्व मुक्ति युक्ति योग और विषय जैसे पाँच पदार्थ है इसलिए पांचरात्र कहा गया है।''[60] कृष्णदत्त पालीवाल पुस्तक 'भक्तिकाव्य से साक्षात्कार' में पांचरात्र के विषय में उल्लेख करते हैं, ''नारायण के उपासकों ने नारायण को पांचरात्रिक कहा। नारदपंचतंत्र के अनुसार रात्र का अर्थ है ज्ञान। अतः पंचरात्र वह सिद्धांत और दर्शन है जिसमें ज्ञान के पाँच भेदों का विश्लेषण, विवेचन होता है। वे पाँच तरह के ज्ञान है तत्व, मुक्तिप्रद, यौगिक और वैशेषिक। इस प्रकार पांचरात्र के दर्शन का अर्थ है जो अज्ञान का नाश करे।''[61] कहने का आशय है कि नारायण को पांचरात्रिक कहा गया है। वह अज्ञान का नाश करके ज्ञान प्रदान करते हैं। डॉ. प्रशांत गौरव उल्लेख करते हैं, ''इस उपाधि का अर्थ पंचरात्र यज्ञ का कर्ता है। भगवान ने जिस धर्म की शिक्षा शांडिल्य, औपगायन, मौजायन, कौशिक तथा भारद्वाज इन पाँच ऋषियों को क्रमशः पाँच दिन, पाँच रात दी वही धर्म पांचरात्र कहलाया। रात्रि का अर्थ अज्ञान और पच् धातु से उत्पन्न पंच शब्द का अर्थ पकाने वाला या नाश करने वाला है जिस प्रकार सूर्य रात्रि को दूर भगा देता है। उसी तरह यह अन्य पाँच दर्शनों–योग, सांख्य, बौद्ध, जैन एवं पाशुपत को छिन्न भिन्न कर देता है।''[62] पांचरात्र दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें अद्वैत की भाषा तो है पर मायावाद नहीं। पांचरात्र मत के अनुसार परब्रह्म अद्वितीय, अनादि, अनंत, सुख–दुख, देश काल से परे सर्वत्र व्यापक और नित्य है, वह सगुण–निर्गुण दोनों है।

'वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास' पुस्तक में सुवीरा जायसवाल विभिन्न विद्वानों के अनुमानों का उल्लेख करती हैं, जिसमें पाँच ऋतुओं के अनुसार नरबलि देने के अर्थ में इसकी व्याख्या की गई हैं, ''शतपथ ब्राह्मण में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है नारायण का पंचरात्र पुरुष मेध या नरबलि था, और पाँच दिनों तक चलता था, इसमें बलि की गणना पिछली रात्रि से होती थी, जिसके लिए रात्र शब्द प्रयुक्त है।''[63] इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए सुवीरा जायसवाल उल्लेख करती हैं, ''ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में पांचरात्र का तात्पर्य उस नरबलि अनुष्ठान से था जिसके साथ नारायण का संबंध था। सभ्यता के विकास के साथ–साथ नारायण के चरित्र में भी परिवर्तन हुआ और आनुष्ठानिक नरबलि की प्रथा का त्याग कर दिया गया, किंतु देवताओं में सर्वोच्च एवं सर्वाधिक प्राचीन नारायण के अनुयायियों के साथ यह नाम जुड़ा ही रहा।''[64] कहने का तात्पर्य है कि प्रारंभ में यह मत नरबलि से जुड़ा हुआ है किंतु बाद में इसमें परिवर्तन हुआ और इस प्रथा का त्याग कर दिया।

बहुत पहले पांचरात्र और भागवत एक ही थे, किंतु बाद में दोनों में अंतर स्थापित हो गया। ''पांचरात्र का प्रधान आधार व्यूहवाद था जिसमें व्यूहों की पूजा होती थी।''[65] ''पांचरात्र लोग नारायण की उपासना करके चर्तुव्यूहात्मक रूप (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध) में करते थे।''[66] पांचरात्रिक भगवान नारायण की उपासना करते थे और भागवत लोगों के आराध्य वासुदेव थे। भागवत धर्म और पांचरात्र मत में पार्थक्य बताते हुए कृष्णदत्त पालीवाल कहते हैं, ''भागवत धर्म जातिव्यवस्था का समर्थन करता है, पांचरात्र विरोध।''[67]

प्रारंभिक काल में इस मत का खूब विरोध हुआ। बच्चन सिंह पुस्तक 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में इस मत के विषय में कहते हैं, ''किसी ने इसे वैदिक कहा, तो किसी ने अवैदिक। मनु सात्वतों को पंचम जाति का मानते हैं – शूद्रों से भी गया बीता। सात्वत लोग राजाज्ञा से मंदिरों में पूजा–पाठ किया करते थे। उन्हें भागवत कहा जाता था, किंतु कोई भी ब्राह्मण उनके साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने को तैयार नहीं था।''[68] इस मत को अवैदिक मानने का कारण यह है कि इसमें शूद्रों और स्त्रियों को भी दीक्षा दी जाती थी।

पांचरात्र मत के साधना में भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। ''इस मत में भक्त के व्यावहारिक अनुष्ठानों का भी विधान करते हुए पाँच विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं : मनसा वाचा कर्मणा जप ध्यान अर्चन द्वारा भगवान के प्रति अभिमुख होना।''[69] मूर्तिपूजा, वासुदेवोपासना, शूद्रों तथा स्त्रियों को भक्ति मार्ग में दीक्षित होने का अधिकार, प्रपत्ति इसकी विशेषताएँ है। दक्षिण के आल्वार संतों में भी इन विशेषताओं को देखा जा सकता है। 'भक्ति के आयाम' पुस्तक में डॉ. पी जयरामन लिखते हैं, ''पांचरात्रिकों ने तीसरी चौथी शती ई० से लेकर सातवीं–आठवीं शती तक की अवधि में वैष्णव भक्ति आंदोलन को अत्यंत गतिशील और व्यापक बनाया; इसी का परिणाम था तमिलनाडु के वैष्णव भक्त कवि आल्वारों की विष्णु भक्तिपरक रचनाओं का विपुल मात्रा में निर्माण।''[70] इस पांचरात्र परंपरा का विकास करने का श्रेय श्री वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों को जाता है। यमुनाचार्य, रामानुज, रामानंद आदि आचार्यों ने इस मत का व्यापक प्रचार–प्रसार किया।

2.5 आल्वार संत : प्रपत्ति सिद्धांत

वैष्णव साहित्य को प्रपत्ति सिद्धांत की देन वास्तव में दक्षिण के आल्वार संतों की देन है। आल्वार साहित्य में निरूपित प्रपत्तिमूलक शब्द का अर्थ भगवान के प्रति सम्पूर्ण समर्पण है, 'Prapatti- A term for surrender to God or resignation to the world of God. Prapatti involves self control along with faith. Its aspects include : **Anukuluasampattih**, which indicates the acquiring of qualities which would be pleasing to God ; **Pratikulyasya Varjanam;** avoiding actions unacceptable to God, **Rakshisyatiti Vishvasah;** faith in the protective power of God, **Goptrivavaranam;** appeal for protection, **Karpanyam;** a feeling of one's own insignificances, **Atmasamarpan;** total surrender. This last is the same as Prapatti.'[71] आल्वार साहित्य में निरूपित प्रपत्ति के क्रमशः छः तत्व माने गए हैं–अनुकूलस्य संकल्पः, प्रतिकूल्यस्यवर्जनम्, रक्षिश्यतिति विश्वासः, गोपतृत्ववरणं, कार्पण्याम् तथा आत्मविक्षेपः। प्राचीन शास्त्रकारों जो प्रपत्ति मार्ग का अनुसरण करता है। वह उपर्युक्त छः तत्वों में से किसी भी एक

तत्व का पालन कर सकता है। प्रपत्तिमूलक शब्द के नामकरण का श्रेय वैष्णव आचार्य रामानुज को दिया जाता है। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, ''रामानुजाचार्य ने जहाँ आत्मसमर्पण पर जोर दिया है वहीं, दूसरी ओर मुक्ति के लिए सदाचार और सत्कर्मों के महत्त्व पर भी जोर दिया गया है।''[72] रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित कर्म की महत्ता तथा आत्मसमर्पण की आवश्यकता में परस्पर भेद के कारण ही विशिष्टाद्वैत के अंतर्गत दो भिन्न शाखाओं का निर्माण हुआ जो उत्तरी एवं दक्षिणी शाखाएँ कहलाई। यह दो शाखाएँ वड़कले और तैंकले नाम से प्रसिद्ध हैं।

तमिल भाषा में वड़कले मर्कट को कहते हैं और तैंकले मार्जार को। शाखाओं का यह नामकरण ईश्वर और जीव के परस्पर संबंध का प्रतीक है। ''मर्कट न्याय के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना आवश्यक है। जीव का यह प्रेम मर्कट बच्चे के समान है। जिस प्रकार मर्कटी अपने बच्चे के लिए वात्सल्य विद्यमान होते हुए भी उसके बच्चे को स्वरक्षा के लिए उसका आश्रय लेना पड़ता है अर्थात् उसके पेट से दृढ़ता से चिपक जाना पड़ता है ठीक, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भी वात्सल्य के असीम आगार ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयास करना आवश्यक है।''[73] इस शाखा के अनुयायी मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म करने को आवश्यक मानते हैं। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयास करना तथा कर्मरत रहना, उत्तर भारत के संत कवियों द्वारा स्वीकार किया गया है। सूर, तुलसी, मीरा और अष्टछाप के कवियों में सर्वत्र इसी भावना के दर्शन होते हैं।

तैंकले शाखा ने मार्जार न्याय को स्वीकार किया है इस शाखा के अनुयायी मानते हैं, ''मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वर की असीम कृपा को प्राप्त करने का साधन केवल प्रपत्ति मानकर प्रयत्न का खंडन किया। इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार मार्जरी स्वंय ही अपने बच्चे को उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है उसी प्रकार ईश्वर जीव के प्रयत्न किए बिना ही अपनी कृपा शक्ति से उसे मोक्ष प्रदान करता है।''[74] दक्षिण के आल्वार संत पूर्णरूपेण मार्जार न्यायवादी कवि थे तथा इसी न्याय को महाराष्ट्र में भी मान्यता मिली।

कुछ विद्वानों ने प्रपत्तिमूलक भावना को विदेशी माना है। इसका निराकरण करते हुए एवं प्रपत्ति सिद्धांत को पूर्णतः देशज स्वीकार करते हुए रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं, ''प्रपत्ति के सिद्धांत के बारे में कहा जाता है कि यह इस्लाम का प्रभाव था। किंतु रामानुज को यह विचार इस्लाम से नहीं मिला (इस्लाम तब तक भारत में फैला कहाँ था?) यह तो आल्वारों की शरणागति का रामानुज के द्वारा किया गया पारिभाषित नाम था।''[75]

2.6 अष्टछाप कवि : पुष्टिमार्ग

शुद्वाद्वैतवाद के प्रवर्तक वैष्णव संत वल्लभाचार्य ने भक्ति को प्रेमलक्षणात्मक माना है। वल्लभाचार्य का शुद्वाद्वैत शंकर मत का विरोधी था। शंकर ने ब्रह्म को माया रूप माना है। वल्लभाचार्य ने माया रहित होने के कारण उसे शुद्ध माना हैं। वल्लभाचार्य के मत को पुष्टिमार्ग कहते हैं। ''पोषण का अर्थ भगवान का अनुग्रह है। इस मत में भगवान के अनुग्रह के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। भगवान के पोषण (अनुग्रह) को अधिक महत्व देने के कारण ही यह मत पुष्टिमार्ग कहलाता है।''[76] पुष्टिमार्गीय भक्ति को प्रेम का दृढ़ मानते हुए डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र कहते हैं, ''यह प्रेम ईश्वर की कृपा पर ही सुलभ है। इस संदर्भ में भी प्रेम अपने आप में मूल्यवान है—क्योंकि यह ईश्वर के अनुग्रह का प्रतिफल है।''[77]

भगवान जीवों पर अनुग्रह करने के लिए अवतार रूप में प्रकट होते हैं। वल्लभाचार्य ने जीव को तीन प्रकार की श्रेणी में विभक्त किया है। पुष्टि जीव, मर्यादा जीव और प्रवाह जीव। ''ईश्वर का चिंतन न करके निरूद्देश्य जीवन बीताने वाले जीव प्रवाह जीव हैं। वेदानुसार जीवन व्यतीत करने वाले जीव मर्यादा जीव हैं। तथा जो जीव ईश्वर की विशेष कृपा के लिए पात्र है तथा ईश्वर से अनन्य प्रेम करके उसकी शरण में रहते हैं वे है पुष्टि जीव। इन तीनों में पुष्टि जीव सर्वोत्तम हैं।''[78] पुष्टि जीव अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पण कर उनकी शरण में रहते हैं। पुष्टि भक्ति को भी उन्होंने चार प्रकार का बताया है – ''प्रवाह पुष्टि भक्ति, मर्यादा पुष्टि भक्ति उन लोगों के लिए है जो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी भगवान की भक्ति करना चाहते हैं। मर्यादा पुष्टि भक्ति विरक्त जीवों के लिए है, जो ईश्वर की

कृपा से भक्त बनते हैं। और तत्पश्चात् उसी की कृपा से तत्त्वज्ञानी बन जाते है और शुद्ध पुष्टि वह है जिसके कारण जीव ईश्वर से अमित प्रेम करता है।''[79] श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की भक्ति को शुद्ध पुष्टि भक्ति माना जाता है।

पुष्टिमार्ग में किसी प्रकार के साधन या कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं होती। नवधा भक्ति, साधन भक्ति या मर्यादा भक्ति में भजन पूजन आदि की आवश्यकता होती है, किंतु पुष्टिमार्गीय भक्ति में माधुर्यभाव की भक्ति को प्रेम का दृढ़ आधार माना जाता है। डॉ. पूरनचंद टंडन पुष्टिमार्गीय भक्ति के तीन फलों का वर्णन इस प्रकार करते हैं, ''1. रसरूप पुरुषोत्तम कृष्ण के स्वरूपानंद की शक्ति प्राप्त कर उनकी लीला में प्रविष्ट होना। 2. पूर्ण पुरुषोत्तम में श्री अंग अथवा आभूषणादि का अंग बनना। 3. प्राकृत–शारीरिक इंद्रिय आदि से मुक्त होकर अप्राकृत शरीर से भगवान के बैकुंठ आदि लोकों में भोग की स्थिति प्राप्त करना।''[80] अष्टछाप कवि ब्रज क्षेत्र के गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ भगवान की सेवा में आठों याम समर्पित रहते थे।

मर्यादा मार्ग में जिस प्रकार भक्त विविध क्रियाओं एवं परिपाटियों से बँधा हुआ अनुभव करता है, उसी प्रकार भगवान भी। पं. रघुवीर शर्मा कहते हैं, ''मर्यादा मार्ग में भगवान साधन परतंत्र रहता है, स्वतंत्र नहीं क्योंकि इस मार्ग में भगवान को अपनी बँधी मर्यादाओं की रक्षा करनी अभिष्ट होती है। पुष्टिमार्ग में वह किसी साधन का परतंत्र न होकर स्वयं स्वतंत्र होता है।''[81] कहने का तात्पर्य है पुष्टिमार्ग भक्ति में भक्त और भगवान दोनों ही हर प्रकार के बंधन से मुक्त होते हैं।

'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' पुस्तक में मैनेजर पाण्डेय निष्कर्षतः कहते हैं, ''इसमें न तो कठोर कर्मवाद की जड़ता है और न थोथे ज्ञानवाद की उलझी हुई पहेलियाँ। इसमें नीरस भक्तिवाद का आडम्बर भी नहीं है। वल्लभाचार्य जी की भक्ति पद्धति साधना पद्धति है। जिसमें रसरूप पुरोषोत्तम कृष्ण से संबंद्ध दास्य, वात्सल्य, रसवादी सख्य और गोपियों के संयोग–वियोग के मधुर रस का पूर्ण सामंजस्य है।''[82] पुष्टिमार्गीय भक्ति में गुरू की महानता और सत्संग की महिमा को स्वीकार किया गया है। इसलिए अष्टछाप के

सभी कवियों ने मुक्त कंठ से गुरू की महिमा का गान किया है। सत्संग की महिमा के साथ–साथ गोपियों के शुद्ध प्रेम को महत्त्व दिया गया है।

संदर्भ सूची–

1. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 500–1200ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2009, पृ.–169.
2. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.– 119.
3. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–35.
4. डॉ. ना. सुंदरम्; मीरा और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं.–1971, पृ.–5 (उद्धरण, नारद भक्ति सूत्र 2,3 गीताप्रेस गोरखपुर)
5. वही, पृ.– 20.
6. सं. विश्वनाथ शुक्ल; भक्ति मीमांसा, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, सं.–1970, पृ.–25.
7. वही, पृ.–38.
8. डॉ. शेलेन्द्र मोहन झा; ब्रजबोली साहित्य, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ.–220.
9. डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र; भक्तिकालीन कृष्ण काव्य और मानवमूल्य, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2005, पृ.–100.
10. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–35.
11. विजयेंद्र स्नातक; हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम सं. 2009, पुनर्मुद्रण 2012, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ. 31.
12. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, चौथा सं. –2011, पृ.–346.
13. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1994, पृ.–19.
14. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1, 750–1540 ई०), हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय संस्करण–1997, पृ.–415.

15. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, अनुवादकः एन.ए.खान 'शाहिद', सं.1999, पुनर्मुद्रण 2007, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–87.
16. वही, पृ.–87.
17. एच. लाल; भारत के आदिनिवासियों का इतिहास, खण्ड़–1, प्रथम खण्ड़ 1973, दूसरा सं. 2003, त्रिवेनी प्रकाशन, 1/4006, रामनगर विस्तार, शाहदरा, दिल्ली–110032. पृ. –79.
18. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, अनुवादकः एन.ए.खान 'शाहिद', सं.1999, पुनर्मुद्रण 2007, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–90.
19. सतीशचंद्र; मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगलकाल तक) दिल्ली सल्तनत 1206–1526, प्रथम सं. 2000, पुनर्मुद्रण 2007, जवाहर पब्लिशर्स एंड़ डिस्ट्रीब्यूटर्स, 15, डी.डी.ए, मार्केट बेर सराय, नई दिल्ली–110016, पृ.–255–256.
20. हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिंदी साहित्य की भूमिका, सं. 2012, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–18.
21. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पृ.–244.
22. डॉ. रामचंद्र वर्मा; हिंदी साहित्य युग एवं प्रवृत्तियों का विकास, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–73.
23. वही, पृ.–73
24. सं. हरिश्चंद्र वर्मा; मध्यकालीन भारत (भाग–1, 750–1540 ई०), हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तृतीय संस्करण–1997, पृ.–436.
25. वही, पृ.–436.
26. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–89
27. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1975, पृ.–169.

28. प्रो. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, (अनुवादकः सुरेश मिश्र), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, सं.– 2006, पृ.–111.
29. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 500–1200 ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2009, पृ.–171
30. शहाबुद्दीन इराकी; मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन (सामाजिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य), चौखम्बा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी, सं.–2012, पृ.–74.
31. वही, पृ.–74.
32. रामविलास शर्मा; भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, सं. –2012, पृ.–52,53.
33. डॉ. रामकुमार वर्मा; हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (संवत् 750–1750), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, आठंवा सं.–2012, पृ.–198.
34. डॉ. बच्चन सिंह; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं.–1996, चौथी आवृति–2012, पृ.–81.
35. डॉ. रामविलास शर्मा; परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2011, पृ. –60.
36. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1975, पृ.–278.
37. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–357.
38. डॉ. रामविलास शर्मा; परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2011, पृ. –63.
39. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पृ.–315.
40. डॉ. मलिक मोहम्मद; वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, सं. 1971, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–359.
41. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1994, पृ.–92.
42. डॉ. रामचंद्र वर्मा; हिंदी साहित्य युग एवं प्रवृत्तियों का विकास, कला मंदिर, 1687, नई सड़क, दिल्ली–110006, पृ.–84.

43. आचार्य रामचंद्र शुक्ल; हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. 2010, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, दिल्ली–6, पृ.–35.
44. हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिंदी साहित्य की भूमिका, सं. 2012, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–16.
45. वही, पृ. 52–53.
46. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1975, पृ.–120.
47. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–37
48. डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा; भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड़ दिल्ली–5 द्वारा प्रकाशित, पंचम संशोधित सं.–1993, पृ.–43
49. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–39.
50. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2003, पृ.–29.
51. वही, पृ.–30.
52. के. भास्करन नायर; हिंदी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य, राजपाल एण्ड़ सन्स, दिल्ली, सं.–1960, पृ.–54
53. पं. रघुवीर शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1997, पृ.–13.
54. डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा; भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड़ दिल्ली–5 द्वारा प्रकाशित, पंचम संशोधित सं.–1993, पृ.–43
55. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.–8.
56. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2003, पृ.–34.
57. वही, पृ.–35.
58. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.–9.
59. पं. रघुवीर शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1997, पृ.–14.

60. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–45.
61. कृष्णदत्त पालीवाल; भक्तिकाव्य से साक्षात्कार, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पहला सं. –2007, पृ.–24.
62. प्रशांत गौरव; पूर्व मध्यकालीन भारत (लगभग 500–1200ई०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2009, पृ.–186.
63. सुवीरा जायसवाल; वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा सं.–2005, पृ.–41
64. वही, पृ.–42.
65. डॉ. शैल प्रधान; भारतीय कला में वैष्णव परंपरा, नेशनल सेंटर फोर ओरियेंटल स्टडीज, दिल्ली, सं.–1992, पृ.–45.
66. कृष्णदत्त पालीवाल; भक्तिकाव्य से साक्षात्कार, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पहला सं. –2007, पृ.–25.
67. वही, पृ.–25.
68. डॉ. बच्चन सिंह; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला सं.–1996, चौथी आवृति–2012, पृ.–114.
69. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2003, पृ.–61.
70. वही, पृ.–62.
71. Roshan Dalal, Hinduism: An Alphabetical Guide, Penguine books, India, 2011, P-313.
72. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा सं.–2010, पृ.–273.
73. डॉ. र. श. केलकर; मराठी और हिंदी कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1966, पृ.–81.
74. वही, पृ.–81.

75. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा सं.–2010, पृ.–273.
76. सं. हरबंश लाल शर्मा; सूरदास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं.–2011, पृ.–270.
77. डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र; भक्तिकालीन कृष्णकाव्य और मानवमूल्य, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं.–2005, पृ.–87.
78. डॉ. र. श. केलकर; मराठी और हिंदी कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1966, पृ.–126.
79. वही, पृ.–127.
80. डॉ. पूरनचंद टंडन; हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल से रीतिकाल), जगतराम एण्ड़ सन्स, दिल्ली, सं.–2010, पृ.–170.
81. पं. रघुवीर शर्मा; वैष्णव धर्म एवं दर्शन, आभा प्रकाशन, दिल्ली, सं.–1997, पृ.–164.
82. डॉ. मैनेजर पाण्डेय; भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, सं.–2007, आवृत्ति संस्करण–2012, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–245.